प्रकृति

और

प्रेरणा

भूमिका

प्रकृति के हर स्पन्दन में प्रेरणाओं के स्रोत फूटते रहते हैं। जि
गहराई से उन्हें ग्रहण किया जाता है, उतने ही अधिक वे प्रेरक बन
हैं। जब आत्मगत उन प्रेरणाओं को अन्य सहृदयों तक पहुँचा
अवसर आता है, तब प्रेरणा ग्रहण करने की हमारी गहराई एक
से कसौटी पर चढ़ा दी जाती है। उसमें खरा उतरने के लिए भा
प्रवाह, भावों की सुसंबद्ध शृंखला और उन सब से भी अधिक
व्यक्ति की सुस्पष्टता ही हमारे लिए सहायक बन सकती है। किन्तु
सब सहज सुलभ नहीं होता। उस स्थिति तक पहुँचने के लिए प्र
लेखक को काफी लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है। उसकी प्रार
कृतियों का हर नवीन चरण-न्यास उस ओर बढ़ने का एक-एक
उपक्रम होता है।

मुनि कन्हैयालाल जी की पुस्तक 'प्रकृति और प्रेरणा' इसी प्र
के चरण-न्यास का एक उपक्रम है। इसमें प्रकृति के माध्यम से अ
प्रेरणाएं दी गई हैं। कुछ गद्य उपदेशात्मक भी हैं, जो कि मनुष्य
आत्म-विजय की ओर प्रस्थान करने का सन्देश देते हैं।

मुनि कन्हैयालाल जी कर्मशील व्यक्ति हैं और साथ ही [illegible]
[illegible] भी। मुनिश्री के [illegible] जी के सहयोगी बनकर इधर के
वर्षों से वे अणुव्रत आन्दोलन का प्रचार-कार्य करते रहे हैं। [illegible]
[illegible] उत्तरोत्तर अपनी कार्य-क्षमता को बढ़ाया है। [illegible]
[illegible] साहित्य-कार्य में भी जागरूक हुई है; यह शुभ है। आशा है,
[illegible]
[illegible]।

[illegible] —मुनि [illegible]

[illegible]

प्राक्कथन

गौरव और पदलालित्य की तरह वहाँ सुभाषित का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जो कवि साधक के मार्ग पर चल पड़ा, उसकी कृतियों में सुभाषित का लहराता हुआ अगाध समुद्र उमड़ पड़ा। बहुत समय से मेरे मन की एक साध थी; उन सुभाषितों को हिन्दी भाषा के संसार में भी उतारा जाये। नये सुभाषित हिन्दी भाषा में बहुत बनाये जा सकते हैं, और बहुत बन भी रहे हैं। उनका भी अपना एक स्थान है। किन्तु एक भाषा का यदि दूसरी भाषा में अवतरण होता है तो दो संस्कृतियों, दो विभिन्न युगों और विचारधाराओं की सहज निकटता हो सकती है। मेरे इस प्रस्तुत उपक्रम का यही विशेष प्रयोजन है। पाठकों को इसमें कोई नवीनता ज्ञात नहीं होगी, किन्तु मुझे इस बात की विशेष प्रसन्नता है कि मैं एक भाषा को दूसरी भाषा में अवतरित कर सका हूँ। एक बृहदाकार लौ को यदि अविच्छिन्न रूप से दो दीपकों में विभाजित कर जलाया जाये तो दुगुना प्रकाश अवश्यम्भावी है।

दीक्षावस्था में मुझे आचार्यश्री तुलसी के चरणों का सतत सामीप्य मिला। जीवन के वे दिन मेरे लिए विभिन्न प्रेरणाओं और निर्माण के थे। थोड़े-से अवकाश के क्षणों में आचार्यचरण हम साथी साधुओं को सुभाषित कण्ठस्थ करवाते और उनके माध्यम से शिक्षा फरमाते। साथियों में प्रतिस्पर्धा होती, कौन उसे शीघ्र याद कर सकता है? उन दिनों रटे हुए वे पद्य आज भी बहुत याद हैं।

तदनन्तर आचार्यश्री तुलसी के निर्देश से मेरे जीवन का बहुत बड़ा भाग मुनिश्री नगराजजी के सान्निध्य में बीता और बीत रहा है। मैं [illegible] का बहुत बड़ा आशीर्वाद मान रहा हूँ। मुनिश्री का [illegible] [illegible] बहुत से गहन [illegible], वहाँ [illegible] भी मैंने बहुत बड़ा आधार पाया। मुनिश्री द्वारा व्याख्यान [illegible] में प्रयुक्त [illegible] प्राचीन [illegible] सूक्तियाँ, अनुभूति [illegible] आधार बने गये। इसमें से कुछ एक सुभाषित यहाँ [illegible], जो [illegible] पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं—

साहित्य परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्ल जी के प्रति भी मैं विशेष श्रद्धावनत हूँ। साधना के दुरूह मार्ग पर जब मैंने अग्रसर होना आरम्भ किया था, तब आचार्यवर के निर्देश में आपने ही मेरा पथ-दर्शन किया था। अब जब कि मैं साहित्यिक क्षेत्र में भी बढ़ने के लिए उत्सुक हुआ हूँ तो आपने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखकर तथा अन्य प्रकारों से भी मुझे प्रोत्साहित किया है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' मेरे सहदीक्षित और सहपाठी रहे हैं। अपनी अत्यधिक व्यस्तता में भी उन्होंने मेरी इस पुस्तक का पारायण किया और मुझे उचित संशोधन और परिवर्धन सुझाये, यह मेरे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण थाती है।

वि० सं० २०१८ मा० शु० १४ —मुनि कन्हैयालाल

राजसमन्द [राजस्थान]

प्रेरणा

न्यूनता

●

मनीषी—दिनकर ! तू सहस्र रश्मियों के परिवार से धरातल पर अवतरित होता है। तू अपने प्रकाश पुंज से सभी पदार्थों को आलोकित करता है। निद्रा की सघनता से निमीलित नयनों को विस्फारित करने में तू अपनी अद्वितीय शक्ति का परिचय देता है। अविकस्वर कमल राशि को विकसित कर जन-जन के मानस-भ्रमर को मोहित करने के लिये उद्यत बन रहा है। कृष्ण मुख गहन अन्धकार पिशाच से संत्रस्त संसार को निर्भय बनाकर विजय बांसुरी बजा रहा है।

इन सभी स्तुत्य व प्रशंसनीय महान् कार्यों से प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

दिनकर—महाभाग ! क्या मेरे तेजः पुंज में कोई न्यूनता या त्रुटि भी है ? यदि ऐसा होगा तो मैं उसका प्रतिकार करने के लिए सदैव तत्पर रहूँगा।

मनीषी—दिनकर ! मैं क्या कहूँ ? अपनी न्यूनता का अध्ययन तू स्वयं कर सकता है। भला, यह भी किसी से अज्ञात है कि तू अपने भाई [illegible], अपने सहवासिय परिजनों को निस्तेज बनाकर, केवल अपने [illegible] जनता को अपना ही महत्त्व दिखला रहा है। क्या [illegible] नहीं है ? क्या यह तेरी कमी आत्मा में [illegible] नहीं है ?

अधम का सम्पर्क

अनल ! तू तेजोमय है। कई स्थानों में तू पूज्य कहलाता है। तेरा देव की भांति स्वागत होता है। तेरी चरण-ध्वनि से तिमिर अपने समस्त परिवार को समेट कर अज्ञात गुफा की ओर प्रयाण कर देता है। तेरे अभाव में पाचन-क्रिया असाध्य ही नहीं असम्भव हो जाती है। तेरे में वह शक्ति है, जिससे कठोरतम लोहखण्ड भी तरल बन जाता है। आश्चर्य है, स्वयं समर्थ व बलिष्ठ होते हुए भी हथौड़े की अतिशय ताड़ना सहन करता है। किन्तु मित्र ! यदि तू कृतघ्न लोहे का सहवास नहीं करता तो ये करारी चोटें भी तुझे कभी सहन नहीं करनी पड़तीं।

वह्नि ने अपनी वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा—बन्धुवर ! तुम जो कह रहे हो; वह अक्षरशः सत्य है। परन्तु मैंने लोहे का संसर्ग इसीलिए किया था मेरे कष्टों में वह भी कुछ हाथ बटायेगा। मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह मेरे साथ इस प्रकार वञ्चनापूर्ण व्यवहार करेगा और मेरे लिए असह्य दुःख की घड़ियां उत्पन्न करेगा। किन्तु अब क्या हो सकता है जब कि एक अधम के शिकंजे में मैं फंस ही गया। सज्जन का संसर्ग व सम्पर्क किसी सौभाग्यशाली के लिये ही उपलब्ध होता है।

मिलाने की क्षमता

●

गिरिराज ने अत्यन्त खिन्न होकर रत्नाकर से अपनी व्यथा सुनाते हुए पूछा—महाभाग ! मेरी यह अंगजाएं मेरा घर छोड़ कल्लोलें करती हुई तेरे पास क्यों आ रही हैं ? जिनको मैंने जन्म दिया, वे मेरे से विमुख हो रही हैं। मेरा उपकार भूलकर मृगी की तरह छलांगें भरती हुई बड़ी द्रुत गति से तेरे पास उल्लास के साथ आ रही हैं। मेरी अनुमति लेना तो दूर मुझे बिना किसी प्रकार का संकेत किये छुपे-छुपे सैकड़ों मीलों की दूरी नापती हुई तेरे द्वार पर पहुँच रही हैं। जलनिधे ! तेरे में ऐसा क्या आकर्षण है ?

सस्मित करते हुए पारावार ने कहा—गिरिराज ! मैंने आश्रय देना सीखा है। मैं सबको अपने में मिलाना जानता हूँ और सबको समान दृष्टि से देखता हूँ। मेरे यहां किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। चारों ही प्रहर मेरे द्वार सबके लिए खुले हैं। मैं कहीं भी किसी को आमंत्रित करने नहीं जाता, तथापि प्रतिक्षण मेरे यहां सैकड़ों अभ्यागतों के आने का तांता लगा रहता है। आने के बाद जाने का कोई नाम ही नहीं लेता। उसका समाधान है—सबको ही अपने में मिलाने की क्षमता और समाहित को आश्रय देना।

काम्य की उपलब्धि

●

एक पथिक ने एक विद्वान से पूछा—कल मैं बगीचे में गया था। वहां की शीतल छाया से मेरे मन को अपूर्व सान्त्वना मिली थी। गुलाब, केतकी, चम्पक आदि की अद्वितीय सौरभ से मेरा मन प्रीणित हो रहा था। पल्लवित वृक्षावलि तथा विकसित पुष्पावलि के सौम्य दृश्य से नेत्रों का उन्मेष और निमेष भी स्थिरता पा रहा था। सागर में ज्वार की भांति उमड़-उमड़ कर जनता का प्रवाह अस्खलित गति से वहां प्रवेश कर रहा था। सहसा मेरी दृष्टि मधुकर पर पड़ी। वह गुनगुनाहट करता हुआ कमल पर मंडरा रहा था। परन्तु ज्यों-ही वह कमल पर बैठा, त्यों-ही उसकी गुनगुनाहट सर्वथा बन्द हो गई। श्रीमन्! इसका क्या कारण था? इसके पीछे भी क्या कोई अज्ञात तत्त्व छिपा हुआ है?

चिन्तनपूर्वक मनीषी ने उत्तर दिया—पथिक! साधक तभी तक मुखर रहता है, जब तक उसे साधना में सिद्धि नहीं मिल जाती है। सिद्धि प्राप्त होने पर अर्थात् अपने काम्य की उपलब्धि होने पर, उसका मौन होना स्वाभाविक ही है।

दोष-दर्शन

●

छलनी ने सुई से कहा—तेरी विशेषताएं अपार हैं। तेरी सरलता से सारी दुनियां आकर्षित है। तेरे में कार्य करने की अकल्पित क्षमता है। दो को एक करने का सामर्थ्य जैसा तेरे में है, वैसा किसी में नहीं है। फिर भी तेरी एक बात मुझे पसन्द नहीं है।

मुस्कराती हुई सुई बोली—बहिन छलनी! अपार विशेषताओं में वह एक साधारणता क्या है?

छलनी ने तड़क कर कहा—बहिन! देख, तेरे में जो एक छिद्र है, वह तेरी गरिमा के अनुरूप नहीं है। भद्रे! क्या तू नहीं जानती है कि नाव का एक छोटा-सा छिद्र भी कितना खतरनाक हो जाता है। यदि उसे न रोका जाये तो उससे कितने अनर्थ हो सकते हैं, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

छलनी पर करारा प्रहार करती हुई गरिमा सुई बोली—बहिन छलनी! 'विरोधो दृश्यो न च परमतस्येति विदितम्'। क्या तू आज इस दोष का पूर्ण रूपेण परिमार्जन नहीं कर रही है?

उन्नति की भूमिका

अनन्त अन्तरिक्ष में दो मेघ खण्ड परस्पर मिले। दोनों में सौहार्द नहीं था। वे एक-दूसरे को तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे थे। दोनों में से एक जल-हीन था और दूसरा जल-संभृत। जल-संभृत मेघ ने जल-हीन मेघ से कहा—साथी! अब यहां तेरा क्या महत्त्व है? अस्तित्व-विहीन होकर निर्गुण मानव की भांति तेरा यहां आना बेकार है। यहां से चला जा, क्यों वृथा बकवास कर रहा है। 'थोथा चणा बाजे घणा' इस उक्ति को चरितार्थ करने के लिये आज तू क्यों अकुला रहा है?

सलिल-संपूरित मेघ को ललकारते हुए जल-विहीन मेघ ने कहा—दूसरों की अवगणना कर, अपने को महत्तर प्रमाणित करने का प्रयत्न करना किसी के लिये भी गौरवास्पद नहीं हो सकता। कुछ अन्तर दृष्टि से चिन्तन कर। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो गुण-विहीन ही हो। अपने-अपने स्थान पर सबका महत्त्व है। जिसे केवल निर्गुण ही समझा जा रहा है, उसके बारे में भी कुछ सोचो! ये जो खेत लहलहा रहे हैं, अपने अंतर में मुक्ता-सदृश अन्न-कण समेटे हुए हैं, उनके मूल में कौन है? दूसरों को तुच्छ समझकर अपने को महान् समझना, क्या अहंकार की निम्नता नहीं है?

प्रगति की पराकाष्ठा

●

वसन्त का समागम होते ही उपवनों के प्रत्येक अवयव में नया रंग निखरने लगा। वृक्षावलियों पर रहे कुसुमों की अपरिमित सौरभ से सारा दिङ्मंडल सुरभित होने लगा। यह सब देख कर वसन्त फूली नहीं समाई। साहंकार वह कहने लगी—मेरे अप्रतिम प्रभाव के समक्ष आज कौन नत-मस्तक नहीं होगा?

अपूर्व गर्व को देखकर वृक्ष ने वसन्त से कहा—तुम्हारी विदाई का समय अब समीप ही है। तैयार हो जाओ। विदा के समय में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

वसन्त ने वृक्ष के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—क्यों, देखते नहीं, आज सर्वत्र एक छत्र साम्राज्य छिटका है? प्रकृति के अणु-अणु में जो उल्लास, विलास, निखार व सौन्दर्य है, उसका मूल-भूत कारण क्या है; यह भी तो सोचा होगा? सबकी दृष्टि मेरी ओर ही केन्द्रित है तो मुझमें भी कोई विशेष महत्त्व होना चाहिये।

वृक्ष ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—वसन्त! [illegible] 'सब दिन होत न एक समाना'। जो आता है उसको एक दिन [illegible] करना पड़ता है। जो खिलता है, उसका मुरझाना भी निश्चित है। [illegible]

उत्तम और अधम का स्थान

●

समुद्र! तू गम्भीर है। शरणागत को आश्रय देने में तुझे जरा भी संकोच नहीं है। हर किसी को आत्मसात् करने का सामर्थ्य तुझे ही प्राप्त है। आते हुए अपरिमित आघातों से भी तेरा दिल कम्पित नहीं होता है। मर्यादा-हीन जीवन भी तुझे प्रिय नहीं है। लक्ष्मी और सरस्वती जैसे बड़े-बड़े चौदह रत्नों को तू जन्म देने वाला है। इतना धनी व शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी तेरे में योग्यायोग्य के परीक्षण करने का सामर्थ्य नहीं है। इतना बड़ा वर्चस्व होते हुए भी तू यह निर्णय नहीं कर पाता कि कौन किस स्थान का अधिकारी है।

[illegible]! तूने रत्नों की अपेक्षा तुच्छ तृणों को अधिक महत्त्व दिया है। रत्नों का मूल्य आंकने में तेरी बुद्धि सठिया गई है। अम्भोनिधे! तेरा [illegible] दोष यही है कि तूने रत्नों को तिरस्कारपूर्ण स्थान—अत्यन्त निम्न गड्ढा दिया और तुच्छ तृणों को इतने ऊंचे आसन पर बैठाया है कि [illegible] तेरे सिर पर नाचते रहते हैं। क्या यह तेरा कार्य [illegible] है?

[illegible]! रत्नों को अपने पैरों नीचे दबाये रखने में तेरा क्या महत्त्व [illegible]? केवल तृणों का ही मान बढ़ाने में तू अपनी समस्त शक्ति का [illegible] कर रहा है? पानी के थपेड़ों से तृण कदाचित् नीचे भी चले जाते हैं, फिर भी तेरा प्रयत्न उनको ऊंचा उठाने का ही होता है।

[illegible]! तू चाहे कितना प्रयत्न कर, संसार की दृष्टि में तो रत्न [illegible] है [illegible] तृण ही है।

सहवर्तिता

सूई ! आगे बढ़, पर ससूत्र आगे बढ़। सूत्र तेरा शृंगार है, आभूषण है और उससे ही तेरी प्रतिष्ठा है। सूत्र तेरे जीवन को चमकाने वाला है। संसार में आज तेरा इसीलिये मूल्य है। तेरे में दो को एक करने की जो अमित शक्ति हैं; फटे हुए को जोड़ने का जो अपूर्व बल है, मानव की लज्जा रखने का जो तुझे अद्वितीय गौरव प्राप्त है, उन सबमें सूत्र की अनन्य प्रमुखता है।

सूत्र के अपरिमित उपकार से तू कभी भी उऋण नहीं हो सकती। सूत्र के कारण ही दुनिया तुझे उच्च दृष्टि से निहार रही है। सूत्र के बिना तेरा जीवन निर्गुण मानव की भांति बेकार है।

तू यदि एकाकिनी होकर आगे बढ़ना चाहेगी तो तेरी सफलता प्रतिगामिनी ही रहेगी। अतः बहिन ! प्रति कदम सूत्र को साथ लिये चलने में ही तेरा गौरव है।

अपनत्व

कवि बगीचे में जा पहुंचा। वृक्षों व लताओं की शीतल छाया पा उसका मानस अतिशय प्रीणित होने लगा। इधर-उधर पर्यटन करते हुए सहसा उसकी दृष्टि माली पर पड़ी। वह सविस्मय मुस्कराया और चिन्तन के उन्मुक्त अन्तरिक्ष में विहरण करने लगा।

माली ने भी उसे निहारा। उस की भाव-भंगिमा देखकर उससे मौन नहीं रहा गया। उसने पूछा—विज्ञवर ! मुस्कराहट किस पर ?

कवि—माली ! मेरी हंसी का निमित्त अन्य कोई नहीं, तू ही है। जहां एक ओर तो तू कुछ एक पौधों की कांट-छांट कर रहा है, निर्दय बन कर कैंची का प्रयोग कर रहा है, वहां दूसरी ओर कुछ पौधे लगा भी रहा है, उन्हें पानी सींच रहा है, खाद-मसाला डालकर उन्हें पुष्ट कर रहा है। यह तेरा कैसा व्यवहार ! इस भेद-बुद्धि के पीछे क्या रहस्य है ? तेरी दृष्टि में सब पौधे समान हैं, फिर भी एक पर आघात और अन्य पर प्यार, एक का पृथक्करण और एक को सत्कार ? यह अन्तर ...?

दीपक

●

दीपक ! तू संसार को प्रकाशित करने वाला है। भीत प्राणियों को निर्भय करने का सामर्थ्य तुझ में है। विश्व तेरे स्वागत के लिये उत्सुक है। तेरे आगमन से ही तम-पिशाच अपने घर की ओर दौड़ जाता है। कहीं-कहीं तू देव रूप में भी पूजा जाता है।

प्रतिष्ठा का इतना आस्थान होते हुए भी तुझे सहनशीलता तनिक भी छू नहीं पाई है। तू लघुतम हवा के झोंके से पराजित हो जाता है। हन्त ! क्या तू अपने में स्थिरता स्थापित नहीं कर सकता ? क्या तुझे ज्ञात नहीं है कि स्थिरता ही विजय का अभिनव-द्वार है। स्थिरत्व ही यौवन का प्रतीक है। स्थिरता से ही मानव अपने साध्य को प्राप्त कर सकता है।

दीपक ! यदि तू विजय प्राप्त करना चाहता है तो वायु के झोंकों से अस्थिर मत बन। स्थिर रहना सीख। संसार तेरा स्वागत करेगा।

चिन्ता

चिन्ता ! तू संसार में क्यों आई ? जहां तेरा समागम होता है, वहां मानव विह्वल होकर किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं। स्वयं को भूलकर दुष्प्रवृत्तियों के शिकार बन जाते हैं। क्या शक्तिशाली और बुद्धिशाली; तेरे सामने शक्तिहीन और बुद्धिहीन बन जाते हैं। बड़े-बड़े आतप वाले वार्दलाच्छादित सूर्य की तरह निस्तेज हो जाते हैं। कर्मठ कार्यकर्ताओं की गति में तू पर्वत की तरह अवरोधक बन जाती है। शास्त्रों का चिन्तन मनन व मन्थन करने वाले प्रतिभाशाली विदग्ध व्यक्तियों के उल्लास में भी तू निरुत्साह की लहर दौड़ा देती है। कवियों और लेखकों के हृदय को भी तू चुराकर ले जाती है। एक कवि ने ठीक ही लिखा है :

> चिता चिन्ता समा प्रोक्ता, को भेदश्चितचिन्तयोः।
> चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता सजीव मप्यहो ॥ १ ॥

चिता और चिन्ता दोनों समान हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है ? चिता मृतक को जलाती है और चिन्ता जीवित को भी भस्मसात् कर देती है। अतः चिन्ता ! तू किसी को भी प्रिय नहीं है। तेरा वंचनापूर्ण व्यवहार किसी के लिये भी सुखद नहीं हो सकता।

अन्तर और बाह्य का भेद

बगुला—मानसरोवर-वासी हंस ! तुम मेरे बड़े भाई हो, मैं तुम्हारा छोटा भाई हूं। दोनों में किसी भी तरह की असमानता नहीं है। तुम गगनविहारी हो तो मैं भी गगनविहारी हूं। तुम्हारा शरीर रजत की भांति धवल है तो मेरा भी शरीर धवल। तुम्हारे दो पैर हैं, दो कान और दो आंखें हैं। मेरे भी ते सब कुछ वैसे ही हैं। मैं किसी में भी अपूर्ण नहीं हूं। दुनिया केवल तुम्हें ही आदर की दृष्टि से क्यों निहार रही है ? बड़े-बड़े कवि तुम्हारी उपमा से ही महर्षियों को क्यों उपमित करते हैं ? मेरा कहीं भी सत्कार व सम्मान नहीं है। इस दुःखाग्नि से मेरा हृदय प्रज्वलित हो रहा है। इसी चिन्ता में मुझे क्षण भर भी सुख से नींद नहीं आ रही है।

हंस—भाई बगुला ! तेरा कथन अक्षरशः सत्य है। थोड़ा आत्मनिरीक्षण कर। जैसे तू बाहर से दीखता है, क्या वैसा वैसा ही भीतर में है ? ध्यानस्थ योगियों की तरह तू आंखें मूंदकर बैठ जाता है और भोली-भाली मछलियों को मुग्ध कर अपने पंजे में फंसाने का दुष्प्रयत्न करता रहता है। जब तक तेरा यह मनोमालिन्य दूर नहीं होगा, अन्तर और बाहर का भेद नहीं मिटेगा, तब तक तू कभी भी प्रशंसा-पात्र नहीं बन सकेगा और न शान्ति भी पा सकेगा।

[illegible]

अपनी मानसिक व्यथा सुनाते हुए कञ्चन ने स्वर्णकार से कहा—
[इ]स समय आपके अतिरिक्त मेरा कोई भी स्वामी नहीं है। मैं आपके
[अ]धिकार में हूँ। स्वामिन्! मेरा जन्म-स्थान पृथ्वी का निम्नतम स्थान
[थ]ा। मिट्टी-मिश्रित होने से मैं हत-प्रभ-सा हो रहा था। मुझे यह विश्वास
[त]क नहीं था कि मैं आपकी शरण में आकर भी अपने मूल स्वरूप को
[प्र]ाप्त कर सकूंगा। मैं बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ कि इसे समय में
[मु]झे आपके दर्शनों का शुभवसर प्राप्त हुआ। आपके उपकार से मैं कभी
[भ]ी उऋण नहीं हो सकता। आपके अनुग्रह से ही संसार में मेरा अत्यधिक
[मह]त्त्व बढ़ा है।

मेरा एक विनम्र निवेदन है कि आप मेरा उपयोग जो चाहें, करें।
[अ]ग्नि की प्रचण्डतम ज्वाला में मुझे झोंक सकते हैं। विभिन्न तीक्ष्ण
[अ]स्त्र-शस्त्रों से मेरा छेदन-भेदन कर सकते हैं। लोहे के कठोर हथौड़ों से
[मु]झे ताड़ित भी कर सकते हैं। आपका मेरे पर पूर्ण अधिकार है। किन्तु
[स्वा]मिन्! भूल-चूक कर भी आप मुझे कभी तुच्छ गुंजा के साथ मत
[तोल]ना। इस [illegible] के साथ मुझे तोलकर अपनी [illegible] का आप
[illegible] न करना। इसमें सहनशीलता का नाम तक भी नहीं है। इसीलिए
[illegible] मुख काला हो गया है और शेष भाग [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कृपणता क्यों

एक मधुकर जंगल में भटक रहा था। तृषा और क्षुधा से व्याकुल।
श्रान्त, भ्रान्त, क्लान्त। वह शान्त होने के प्रयास में था। अपने
अन्तस्थल से अमित आशा संजोये वह कमल के समीप आया।
कल्पना के कौर खाता हुआ वह सोचने लगा—आज तो मेरी प्यास
अवश्य ही शान्त होगी। आकण्ठ मग्न होकर रस-पान करूंगा। अपनी
आधि और व्याधि से समुत्पन्न सारे संताप का हरण करूंगा। किन्तु
कमल को मुद्रित अवस्था में देखकर मधुकर की आशा निराशा में परि-
णत हो गई। मुख पर विषाद की रेखा खिंच गई। हृदय में अनुत्साह
की लहर दौड़ गई और वह हताश होकर गुंजारव करता हुआ वापिस
ट गया।

वहां खड़े एक मनीषी ने कमल को सम्बोधित करते हुए कहा—
अरविन्द! कैसे सो रहा है? उठ, जाग, तेरे द्वार पर आया हुआ अतिथि
ली हाथ लौट रहा है। हन्त! हन्त! मधुर मधु का आस्वाद करने
े भावना लेकर आने वाले बेचारे मधुकर को यदि तू मधु-दान में
समर्थ हो, कृपण हो तो हो, सौरभ-दान में कृपणता क्यों? इसमें तो
री हानि कुछ भी नहीं है, प्रत्युत तेरा व्यक्तित्व ही निखरेगा।
असंख्य लोग तेरी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करेंगे। “वचने का दरिद्रता?”

भार

१

एक व्यक्ति तालाब पर गया। उसने पानी में डुबकियां लगाईं और उसकी अमाप्य गहराई को छूकर बाहर आया। सोचा—कम-से-कम एक घड़ा पानी तो घर पर भी ले चलूं। घड़े को पानी से लबालब भरकर सिर पर रखकर चल दिया। ज्यों-ही वह घर की ओर बढ़ा, उसकी गर्दन उस पानी के भार से दबने लगी। इतनी अधिक पीड़ा हुई कि उसका घर तक पहुँचना भी अशक्य-सा हो गया। मन का कीर चिन्तन के परों पर बैठ, वास्तविकता के कगार पर पहुँचने के लिये अकुला उठा।

जब मैं कासार में था, मेरे सिर पर हजारों मन पानी का भार था। मुझे उस भार का तनिक भी अनुभव नहीं हो रहा था। शरीर के किसी भी अवयव पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं था और अब केवल पाव सेर पानी के भार से गर्दन झुक गई? चरणों में कुण्ठा के आविर्भाव से चलना असम्भव हो गया?

उसका चिन्तन और गहराई पर पहुँचा तो उसे यह समाधान मिला—वह पानी से विभाजित नहीं था और इससे विभाजित है। यह ममत्व ही तो भार है।

शलभ और दीपक के बीच एक दिन संघर्ष छिड़ गया। तनातनी यहाँ तक बढ़ी कि वे एक-दूसरे को पराजित करने के लिए उद्यत हो गये। सहसा वहाँ एक मनीषी आ गया। उसने उन दोनों से ही संघर्ष का कारण पूछा।

दीपक ने साहंकार कहा—धीमन्! यह शलभ मेरे साथ निष्प्रयोजन ही झगड़ रहा है। व्यर्थ ही दम्भ भर रहा है कि मैं तेरे से बड़ा हूँ और मेरा महत्त्व अधिक है। यह अहंमानी यह मान कर चलता है कि मैं भी प्रकाशमान हूँ, तिमिर-नाशक हूँ। क्या यह इसका मिथ्या प्रलाप उचित है? सारा संसार जानता है कि मेरे प्रकाश के समक्ष यह मन्द-ज्योति तुच्छ है। दूसरों को प्रकाशित करने में सर्वथा असमर्थ है, फिर भी यह आकाशी उड़ानें भरता हुआ नहीं अघाता?

दीपक को चुनौती देते हुए शलभ ने मनीषी से सविनय कहा—विज्ञवर! आप निर्णायक हैं; अतः अवश्य ही यथार्थ निर्णय देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। मेरा निवेदन यह है कि भले ही मेरा प्रकाश मन्द है, तुच्छ है, फिर भी मुझे सन्तोष इस बात का है कि यह प्रकाश मेरा अपना ही है। उसमें अन्य कोई उपकरण सहयोगी नहीं है।

मनीषी के मुँह से सहसा ये शब्द निकले—दीपक! इस संघर्ष में तेरी हार है और शलभ की जीत।

असहिष्णुता और अधीरता

एक मनीषी ने कान से पूछा—तुझे तो पीत स्वर्ण मिला और आँख को श्याम अंजन। यह अन्तर कैसे हुआ? क्या आँख की अपेक्षा तेरे में विशेषताएं अधिक हैं। शरीर के सभी अवयवों में आँख श्रेष्ठतम अवयव गिनी गई है। बिना आँख के सर्वत्र अंधेरा है। आँख मानवों व पशुओं का एक चमकीला नक्षत्र है। आँख में जो विशेषताएं हैं, वे तेरे में नहीं हैं। फिर भी आँख को काला अंजन ही क्यों मिला?

कान मुस्कराता हुआ बोला—श्रीमन् तीक्ष्णतम शलाका से भी जब मेरा छेदन होता है, तब मैं उन कष्टों में प्रसन्न रहता हूँ और अपने धैर्य से विचलित नहीं होता। महामान्य! धैर्य ही महानता का [illegible] है। [illegible] कष्टों के भुगतान आने पर भी मैं कभी चपल नहीं बनता। आँख मेरे से [illegible] विपरीत है। उसमें मेरे जैसी सहिष्णुता और धैर्य कहां है? वह तो [illegible] ही रहती है। [illegible] इस असहिष्णुता और [illegible] यह परिणाम है कि मुझे स्वर्णालंकार मिला है और [illegible]

संग्रह और दान

2

कवि—जलधर ! तुझे रहने के लिये बहुत ऊंचा स्थान मिला है। तू सारे संसार पर गर्जता है। सारा मानव-समाज चातक बनकर तेरी ओर निहार रहा है। तेरे समागम से मयूर की भांति जन-जन का मानस शान्ति उद्यान में नृत्य करने लग जाता है। तू सबको प्रिय लगता है। तू जहां जाता है, वहीं तेरा बड़ा सम्मान होता है। पर थोड़ा गौर से तो देख, तेरे पिता समुद्र की आज क्या स्थिति हो रही है। पिता होने के नाते उसे भी बहुत ऊंचा सम्मानीय स्थान मिलना चाहिए था। किन्तु उसे तो रसातल—सबसे निम्न स्थान, मिला है। उसकी सम्पत्ति का तनिक भी उपयोग नहीं होता। मेघ ! इतना बड़ा अन्तर क्यों ?

जलधर—कविवर ! इस रहस्य की गिरी-कन्दरा में एक गहन तत्त्व छिपा हुआ है। वह है—संग्रहशील न होना। संग्रह करना बहुत बड़ा पाप है। यही मानव को नीचे की ओर धकेलता जाता है। संग्रह वृत्ति के कारण ही समुद्र को रहने के लिए निम्न स्थान मिला है और उसका पानी भी खारा-खारा कड़वा हो गया। समुद्र ने अपने जीवन में लेना ही सीखा है और देना अस्वीकार किया। मैं देने का ही आदी हूं। सम्मान और असम्मान का, उन्नति और अवनति का, निम्नता और उच्चता का यही मूल निहित है।

मिट्टी रोने लगी। आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित करती हुई अपने स्वामी कुम्भकार से प्रार्थना करने लगी—प्रभो ! मैं आपकी चोटें सहन करने में असमर्थ हूँ। मुझे पैरों तले रौंदकर अपमानित किया गया। चाक की तीक्ष्ण किली पर चढ़ा कर मुझे नर्तकी की तरह नचाया गया और अब सोटी के द्वारा पीटकर मेरे कण-कण को व्यथित कर रहे हैं। पर विधाता ! इतने में ही बस कहां ? धधकते हुए अंगारों की शय्या पर भी तो मुझे ही सुलाओगे। स्वामिन् ! यह सब देखकर मेरा मानस क्षुभित हो रहा है। हृदय में उथल-पुथल का ज्वार तीव्र गति से बढ़ रहा है। न जाने क्या होगा ?

मिट्टी को सांत्वना देते हुए कुम्भकार ने कहा—भोली मिट्टी ! इतना क्यों घबरा रही हो ? मैं यह सब कुछ तेरा तोल-मोल बढ़ाने के लिए ही तो कर रहा हूँ। क्या तुझे यह ज्ञात नहीं है कि संसार में चोटों को सहन करने वाले ही महान् बनते हैं। कष्टों तथा तर्जनाओं में सहिष्णुता रखने वाले ही जन-जन के मुकुट होते हैं। सहिष्णुता जीवन का शृंगार है। अतः तू भी सहनशील बन, यह आज तेरी कसौटी है। यदि तू इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायेगी, तो वह दिन भी दूर नहीं है। मानव के उत्तमांग का निर्माण भी तेरे से ही होगा।

पृथक्ता से हानि

एक जल-बिन्दु ने सोचा समुद्र में रहना अच्छा नहीं है। जितना आनन्द स्वतन्त्रता में है, उतना बन्धन में नहीं। जैसी सुखानुभूति पृथक्ता में है, वैसी समुदाय में कभी नहीं होती। मैं अलग होकर जितना विकास कर सकता हूँ, उतना समूह में रहकर कैसे कर सकता हूँ? आखिर उसने पृथक्तावादी नीति का अनुसरण करने का निश्चय कर ही लिया।

अन्य जल-बिन्दुओं ने सहसा तड़क कर कहा—भ्रातृवर! तुम समूह से विलग होकर स्वतन्त्रापूर्वक विचरण करने की जो कल्पना कर रहे हो, वह तुम्हारे लिए श्रेयस्कर नहीं है। तुम सोच रहे हो कि मैं अकेला होकर विकास कर लूं, किन्तु विकास तो नहीं, विनाश अवश्य ही कर लोगे।

कुछ गहराई से सोचो। जो काम समुदाय में रहकर किया जा सकता है, वह पृथक् रहकर किसी भी परिस्थिति में नहीं किया जा सकता। लेकिन उस अभिमानी जल-बिन्दु के मस्तिष्क में यह बात कब जमने वाली थी। सहसा वह उन बिन्दुओं के बीच से उछल पड़ा और अलग हो गया। सूर्य की किरणों से सारा समतल तप्त हो रहा था, पड़ते ही उसका अस्तित्व धूलिसात् हो गया।

आशाया ये दासा स्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः॥

आशा के जो दास हैं, वे सारे लोक के दास हैं। जिन्होंने अपनी आशा को दास बना लिया, उनके लिए सारा लोक दास है। मित्र! यदि तू विश्व-विजयी बनना चाहता है तो तृष्णा (आशा) का दास कभी मत बन। अवश्य ही तुझे सफलता मिलेगी।

इच्छा हु आगास समा अणंतया—इच्छाएं आकाश की भांति अनन्त हैं। उनका छोर कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। मानव के मानस समुद्र में वे उद्वेलित होती रहती हैं। वे मानव को विवेक-भ्रष्ट बनाकर अनीति और अत्याचार के कुमार्ग पर चलने के लिए विवश करती रहती है। उनके चंगुल में फंसकर बुद्धिशील व्यक्ति भी किंकर्तव्य-विमूढ़ बन जाते हैं। न्याय-अन्याय का भान भूलकर दूसरों को छलने तथा धोखा देने के लिए विस्फारित वदन रहते हैं। दूसरों का गला घोंटना तो वे अपना

साधक ! तेरे में कार्य करने की अपूर्व क्षमता है। तेरा चिन्तन प्रतिक्षण नई-नई योजनाएं बनाने में संलग्न रहता है। तेरा कार्य व तेरा चिन्तन तभी फलित होगा, जब तेरे हृदय में निःस्पृहता की भावना जागृत होगी। निःस्पृह मनुष्य ही इस जगत् में सफल व सुखी होता है। स्पृहा मनुष्य को दुःख के गहरे गर्त में ढकेलती है। जब तक मनुष्य को अपने स्वभाव का लाभ नहीं मिलता, तब तक मनुष्य स्पृहयालु रहता है। स्पृहा से मनुष्य में हीन-भावना पैदा होती है। वह जगत् का दास बन जाता है। वह दूसरों के सामने हाथ जोड़कर याचना करता है। जहां जाता है, वहां उसका अपमान होता है। विविध प्रकार की यातनाएं सहन करता है, इससे वह अशान्त रहता है। जिसने अपने स्वभाव का लाभ प्राप्त कर लिया है, उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य अवशेष नहीं रहता। वह अपने ऐश्वर्य से सम्पन्न निस्पृह हो जाता है। उसके सामने समग्र संसार तृण-तुल्य है। किसी भी बाह्य पदार्थ की उसे स्पृहा नहीं रहती। उसके भूमि शय्या है, भैक्ष अशन है, जीर्ण वसन है, वन भवन है, फिर भी वह निःस्पृहता के कारण चक्रवर्ती से भी अधिक सुखी होता है। वह पूजा और प्रतिष्ठा को महत्त्व नहीं देता, इसीलिए वह पूर्ण सुखी होता है। परस्पृहा ही महादुःख है और निःस्पृहता ही महान् सुख है।

साधक ! तेरी [illegible] निःस्पृहता के अंकुर प्रस्फुटित हो [illegible]

[illegible]

●

साधक ! तू अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कर। कर्त्तव्य उपादेय और अकर्त्तव्य को हेय समझ कर आगे बढ़। छाया की तरह सफलता तेरी सहगामिनी रहेगी।

कर्त्तव्यशील मनुष्य अपने कर्त्तव्य पर ही तत्पर रहता है। उसके जीवन का लक्ष्य अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करने का ही होता है। वह अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए सभी प्रकार के कष्टों की परवाह न करता हुआ और योद्धा की भांति आगे बढ़ता ही जाता है। कार्य को पूर्ण करते हुए अपना जीवन ही समर्पित कर देना, यही मार्ग उसके सामने रहता है। वह अपने आत्म-बल के आधार पर दूसरों की अपेक्षा नहीं रखता हुआ अपने कार्य को पूर्ण करता है। वह कभी निराशा का स्वप्न नहीं देखता। उसके जीवन में अपार साहस होता है, इसलिए कठिनतम कार्य भी उसके लिए सहज बन जाते हैं। जो कार्य उसके लिए अकर्त्तव्य हैं, उनको करने के लिए वह एक कदम भी आगे नहीं रखता; क्योंकि उससे वह अपना आत्म-पतन समझता है। अपनी हथेली पर प्राण रखकर वह निकल पड़ता है और लक्ष्य-साधना में सब कुछ अर्पित कर देता है। उसका स्वाभिमान जागृत हो जाता है। वह अपनी मानवता को किसी भी परिस्थिति में खोना नहीं चाहता। मानवता का पालन करना ही उसका कर्त्तव्य होता है। दानवता को वह कभी आश्रय नहीं देता।

अतः साधक ! कर्त्तव्य पर पर्वत की भांति अटल रहना सीख। समग्र कष्टों को चीरता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर। इसी में तेरा महत्त्व है।

आशावादिता

●

कृषिकार ! हताश मत बनो। चलते चलो। क्रिया करते रहो, अवश्य सिद्धि मिलेगी। आकाश में काले-काले मदोन्मत्त गजराज की भांति बादल छा रहे हैं। अपनी गड़गड़ाहट से विश्व को सचेत कर रहे हैं। बिजलियां अपनी चमक-दमक से विश्व को चकाचौंध कर रही हैं। हवा ने अपना रुख बदल लिया है। वातावरण अनुकूल है। समस्त सामग्रियों की उपलब्धि सहज हो रही है। तब फिर निराशा की धधकती हुई ज्वालाओं से प्रज्वलित होकर हताश क्यों हो रहे हो। आशा जीवन है, निराशा मृत्यु है। आशा अमृत है, निराशा गरल है। आशा गति है, निराशा कुण्ठा।

आशावादी व्यक्ति ही अपनी साधना में सफलता पा सकता है। जिसके हृदय में आशा की लौ प्रदीप्त नहीं है, उसे सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई देगा। वह कभी भी आगे बढ़ने की राह नहीं पायेगा; निष्क्रिय बन जायेगा। अपने जीवन का कुछ भी विकास नहीं कर सकेगा। इसलिये किसान ! निराशा के झूले में कभी भी मत झूल। सदा आशावादी बना रह।

इच्छा-नियन्त्रण

साधक ! अपनी साधना में सावधानी रख । साधना में जो बाधक तत्व हैं, उन्हें अपने जीवन में कभी स्थान मत दे । साधना में सबसे बड़ी बाधा है, इच्छाओं का अनियन्त्रण । जो मनुष्य अपनी इच्छाओं का नियन्त्रण नहीं करता, वह अपनी साधना से विचलित हो जाता है और नाना दुःखों का भाजन बन जाता है । इच्छाओं का अनियन्त्रण इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करता है । इन्द्रियों के अनियन्त्रण से मन चंचल बनता है । मन की चंचलता से आत्मा बहिर्मुखी हो जाती है और बाह्य पदार्थों में वह सुख का स्वप्न देखने लग जाती है ।

इच्छाओं की निवृत्ति ही साधना में मुख्य है । इच्छाओं से अनिवृत्त मनुष्य के उपभोग से जो अवशिष्ट पदार्थ रहते हैं, वे तो केवल उसके भोग के असामर्थ्य से ही । जगत् के समस्त पदार्थों को उपभुक्त करने की जैसी उसकी तीव्र इच्छा होती है, उसी तरह यदि उसे भोग-शक्ति प्राप्त होती तो दुनिया में एक भी पदार्थ नहीं बच पाता । समग्र संसार को वह निगल जाता । राहु की ग्रास-असमर्थता से ही सूर्य और चन्द्रमा बच पाते हैं, वरना वह उनको कभी का ग्रसित कर लेता । प्रति प्राणी के आशा-गर्त इतना गहरा है, यदि उसमें जगत् के समस्त पदार्थों को उंडेल दिया जाये तो वे सब पदार्थ उसमें अणु के समान ही रहेंगे । संसार में अनन्त प्राणी हैं और एक-एक प्राणी की अनन्त-अनन्त इच्छाएं हैं । एक-एक की इच्छा को पूर्ण करने के लिए समूचे जगत् के पदार्थ अपर्याप्त हैं । सोचना यह है कि यदि पदार्थों का बंटवारा किया जाये तो किस-किस को कितना-कितना हिस्सा जायेगा ।

अतः साधक ! इच्छाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उनका नियन्त्रण ही श्रेयस्कर है और वही साधना में निखार लाता है ।

बहिर्मुख और अन्तर्मुख

साधक! संसार में मनुष्य दो प्रकार के होते हैं; अन्तर्मुख और बहिर्मुख। जिसकी प्रवृत्ति आत्मलक्षी होती है, वह अन्तर्मुखी होता है। वह आत्मा के हिताहित को देखकर ही कार्य में प्रवृत्त होता है। जहां अपनी आत्मा के पतन का आभास होता है, वहीं उसकी प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। भौतिक प्रलोभनों की चिकनी मिट्टी में वह कभी नहीं फिसलता। नाना प्रकार के कष्टों को सहकर भी वह आत्म-हितार्थ अग्रसर होता है। उस मनुष्य के सामने बाह्य पदार्थ नगण्य होते हैं। वह उनमें आसक्त नहीं होता। उसकी सारी प्रवृत्तियां संयम की ओर होती हैं और वह उससे बढ़कर किसी को भी श्रेयस्कर नहीं मानता। अन्तर्मुख चक्रवर्ती अपने षट्खण्ड के राज्य को भी तृण-तुल्य समझकर संयम के लिए त्याग देता है। उससे बढ़कर दुनिया में स्तुत्य कोई नहीं है। वह साधना की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है।

एक वार भी

हे अज्ञानी मानव ! मोह में मुग्ध होकर अर्थार्जन के लिए असि,
सि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि के द्वारा विविध प्रकार के कर्म
रता है। अनेकशः सरदी, गरमी आदि के असह्य संकटों को सहन करता
। यदि स्ववश संयम के लिए एक बार भी असह्य कष्टों को सहन कर
तो तू अनन्त सुखों को प्राप्त कर सकता है।

उदाहरणार्थ गजसुकुमाल मुनि ने संयम की आराधना के समय
ोमिल द्वारा दिये हुए कष्टों को समभाव से सहन करते हुए अनन्त सुखों
ी प्राप्ति की।

अध्यात्म का मूल्य

प्रबुद्धात्मन् ! आज के इस भौतिक युग में लोगों का जीवन अध्यात्म-वाद से विमुख होकर भौतिकता की ओर अग्रसर हो रहा है। अध्यात्म-वाद की उपेक्षा ही नहीं प्रत्युत इसका उपहास हो रहा है। नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों में आसक्त होकर मनुष्य अपने आप को कृत-कृत्य समझ रहे हैं। वे बाह्य दशा में मुग्ध होकर आत्मीय तत्त्व को भूल रहे हैं। अन्तर की ओर कभी भी नहीं झांकते। तो क्या इससे अध्यात्मवाद का मूल्य घट जाता है?

गुणवानों के गुणों से अनभिज्ञ मानव गुणवानों को देखकर उनका तिरस्कार करता है। उनसे दूर रहता है। तो क्या उससे गुणवानों के गुणों का ह्रास हो जाता है?

मेवा दाख के स्वाद से अनभिज्ञ ऊंट दाख को देखकर मुंह बिचकाता है, तो क्या इससे दाख का माधुर्य कहीं चला जाता है?

गूढ़ रहस्य

प्रबुद्धात्मन् ! इस जगत में तेरा कुछ नहीं है। जब शरीर भी तेरा नहीं है, तो फिर धन, परिजन, राज्य आदि बाह्य पदार्थ तेरे हो ही कैसे सकते हैं ? अज्ञान-वश जो इन्हें अपना समझ कर अपनाता है, वह दुखी हो जाता है। जैसे तड़ाग-गत जल का भार तैराक को नहीं लगता, किन्तु ज्यों ही वह घड़े में पानी को भर करके अपनाता है, त्यों ही उसे भार की अनुभूति होने लगती है।

इसलिए पर के संयोग से कोई समृद्धिशाली नहीं होता, प्रत्युत पर का दास बन जाता है। आत्मा स्वयं परमैश्वर्य सम्पन्न है। अतः जो यह सोचता है कि मैं अकिंचन हूं, मेरा कुछ नहीं है व पर से सदा निस्पृह रहता है, वही तीन लोक का नाथ बन जाता है। पर की दासता से मुक्त हो जाता है। यही परमैश्वर्यशाली परमात्मा का गूढ़ रहस्य है।

पहले जागो

●

वृद्धावस्था में श्वेत केश के बहाने शरीर से बुद्धि की शुद्धि निकल जाती है। इन्द्रियां हीन पड़ जाती हैं। शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। मन स्वस्थ नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में नादान वृद्ध मनुष्य परलोक को कैसे सुधार सकता है? कैसे अपने जीवन का कल्याण कर सकता है?

अतः भगवान् महावीर की अमर वाणी "जरा जाव न पीलेइ, वाहि जाव न वड्ढइ, जाव इन्दिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे" को सार्थक करता हुआ भव्यात्मा वृद्धावस्था आने के पहले २ धर्म अनुष्ठान में प्रवृत्ति करता है। जीवन की हर घड़ी को मूल्यवान बनाता है। क्षण भर भी प्रमाद नहीं करता। लक्ष्य की उपलब्धि के लिए सदा जागरूक रहता है। और अपने साध्य को प्राप्त करके सिद्धत्व में लीन हो जाता है।

भेद-ज्ञान

आनन्दमय आत्मन्! तू परम सुखी है, परम शान्त है। दुःख का तुझे कभी स्वप्न नहीं आना चाहिये। दुःख तेरा स्वभाव नहीं, विभाव है किन्तु जब मोह के वशीभूत होकर शरीर को आत्मा से अभिन्न समझने लग जाता है तब शरीर के संयोग से तुझे भी दुःख भोगना पड़ता है। नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर तू दुःख का भाजन बन जाता है।

इसलिए दुःख-मुक्ति के लिए और अपने आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त करने के लिए भेद-ज्ञान की परम आवश्यकता है। बिना भेद-ज्ञान के परमानन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भेद-ज्ञानी ही भेद-ज्ञान के बल से शरीर से आत्मा को भिन्न समझता है और वह अनुभव करता है कि व्याधि शरीर को व्यथित कर सकती है किन्तु मुझे नहीं, क्योंकि मैं निराकार, विशुद्ध, चिद्रूप हूँ।

जैसे अग्नि कुटीर को जला सकती है, किन्तु कुटीरासक्त निराकार आकाश को वह जला नहीं सकती। आकाश पर उसका कोई प्रभाव भी नहीं पड़ता। वैसे ही निराकार आत्मा को व्याधि व्यथित नहीं कर सकती। आत्मा अपने आनन्द-मय स्वरूप में सदा लीन रहती है।

यौवन की अल्हड़ता

युवक ! एक दिन हर एक का विनाश अवश्यम्भावी है; अतः यौवन की मादकता से तू क्यों गर्वित हो रहा है। अहंकार के उच्च शिखर पर आरूढ़ होकर अपने स्वत्व को क्यों धूलिसात् कर रहा है ? तेरा यौवन एक दिन बुढ़ापे में अवश्य ही परिणत होकर रहेगा। वृद्धावस्था में तेरी पांचों ही इन्द्रियां निष्क्रिय बन जाएंगी। शरीर सिकुड़ जायेगा। नेत्रों की शक्ति क्षीण हो जायेगी। दन्त-पंक्ति अपने निर्णीत स्थान को छोड़ कर अरण्य-वास स्वीकार कर लेगी। काले-काले कजरारे केश श्वेत बन जाएंगे। कमर नत शिष्य की तरह अवनत हो जायेगी। बिना लाठी के सहारे उठना, चलना-फिरना तेरे लिए महाभारत हो जायेगा। इस क्रम का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। फिर भी युवक ! तू अपने बूढ़े बाबा का उपहास करते हुए कहता है—"बाबा जी ! टेढ़े-मेढ़े होकर कमर झुकाये कैसे चलते हो ? क्या मार्ग में कोई हीरा गिर गया है ?"

सन्तुलन

सुख और दुःख, जीवन रूप सिक्के के दो पहलू हैं। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख का क्रम चलता ही रहता है। फूल खिलता भी है, मुरझाता भी है। दीपक जलता भी है, बुझता भी है। दिनकर उदित भी होता है, अस्त भी होता है। संसार का ऐसा प्रवाह अनादि-काल से चलता आ रहा है। उदय और अस्त में सूर्य अपने स्वभाव को नहीं बदलता। दोनों ही अवस्थाओं में रक्त रहता है। यही उसकी महानता का अभिसूचक है।

महापुरुषों में उसी की गणना होती है जो सुख और दुःख में समवृत्ति होता है। सुख में फूलना और दुःख में घबराना मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता है। कष्टों के अपरिमित भूचालों के आगमन पर भी जिसका हृदय विचलित नहीं होता, समग्र साधन सामग्री प्राप्त होने पर भी जो गुब्बारे की तरह फूलता नहीं, अपने निर्णीत लक्ष्य की ओर सन्तुलन से बढ़ता जाता है, वही प्राणी इस मर्त्य लोक का अद्वितीय रत्न व चमकता हुआ एक उज्ज्वल नक्षत्र है।

पराये से सुख कहाँ ?

साधक ! पराया सदा पराया ही रहता है। वह कभी भी अपना नहीं बनता। आत्मा सदा अपना ही है वह कभी भी पर का नहीं बनता। इसलिए ज्ञानी पुरुष आत्मा के द्वारा आत्मा को जान कर आत्म-विकासार्थ उद्यम करते हैं। उनपर पर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कमल की भांति पर से निर्लिप्त रहते हैं। पर के संयोग और वियोग में उन्हें हर्ष और विषाद नहीं होता। अपने में ही वे लीन रहते हैं। अपने में ही सुख का अन्वेषण करते हैं। बाह्य परिस्थितियों से वे प्रभावित नहीं होते, प्रत्युत अपने लक्ष्य पर अटल रहते हैं।

किन्तु अज्ञानी मानव स्वस्थान को छोड़कर पर में रमण करते हैं। पर में प्रीति जोड़ते हैं। पर को पाकर ही वे अपने आप को धन्य समझते हैं। पर की उपलब्धि के लिए भयंकर संकट सहते हैं। जीवन अर्पित कर देते हैं। उन व्यक्तियों को सच्ची सुखानुभूति कभी भी नहीं हो सकती, प्रत्युत दुःख की उपलब्धि ही होती है। जैसे जलचर के लिए स्थल की प्राप्ति कष्टदायक होती है।

कषाय-शत्रु

साधक ! तेरे हृदय-रूपी निर्मल सरोवर में कषाय-रूपी मगरमच्छ निवास कर रहे हैं। वे क्षमा, सत्य, शील आदि सद्‌गुणों का निरंतर भक्षण कर रहे हैं। तुझे पनपने नहीं देते। तेरे विकास में अवरोधक बन कर बैठे हैं। तुझे उत्तम गुणों के समूह का पात्र नहीं बनने देते। तुझे समय २ पर संत्रस्त कर रहे हैं।

इसलिये हे साधक ! शम-दम-यम रूपी आयुध द्वारा अंतः स्थित कषाय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर। जागरूक बन। अवश्य ही तुझे सिद्धि मिलेगी।

सुख का हेतु धर्म

१

रे चेतन ! तू धर्म कर। धर्म जीवन का सच्चा संबल है। धर्म के बिना मानव, मानव न रह कर दानव बन जाता है। दुनिया में केवल धर्म ही त्राण है, शरण है। धर्म के प्रभाव से निरालम्ब पृथ्वी टिक रही है। धार्मिक पुरुष के दुःख भी सुख में परिणत हो जाते हैं। जो भयंकर उपद्रव मानव को दुःख-सागर में धकेलते हैं, वे उपद्रव भी धार्मिक पुरुष के लिए अनिष्ट कर न होकर मंगल-कारक हो जाते हैं।

जैसे ग्रीष्म ऋतु का प्रचण्ड सूर्य समस्त जगत को आकुल व्याकुल करता है, किन्तु कमल के लिए वह संतापकर न होकर, विकास का हेतु बन जाता है।

उपदेश का अधिकारी कौन ?

प्रबुद्धात्मन् ! "परोपदेशे पांडित्यं" दूसरों को उपदेश देने में सभी कुशल हैं। पर वास्तव में उपदेश देने का अधिकार उसी को है जो अपने आप में पूर्ण हो। जिसने अपने जीवन में उन उपदेशों को पहले उतार लिया है जिन्हें वह दूसरों को देना चाहता है और जिसके जीवन आकाश में नक्षत्र की भांति निम्नोक्त गुण सदा चमकते रहते हैं।

जो ज्ञ—प्रज्ञा व प्रत्याख्यान प्रज्ञा से प्राज्ञ है। जिसने समस्त शास्त्रों के हार्द को प्राप्त कर लिया है। जिसने आशा को अपनी दासी बना ली है। जिसे लोक स्थिति का पूर्ण ज्ञान है। जिसकी प्रतिभा में तत्व ज्ञान प्रतिबिम्बित है। जिसने आत्म स्थित अन्तर अरि का शमन कर लिया है। जो भावी फल के अवलोकन की क्षमता रखता है। जो हर प्रकार के प्रश्नों का समाधान करने में कुशल है। जो सिंह के समान अपने आप को असहाय नहीं समझता है। पर की अपेक्षा बिना स्वयं समर्थ है। अपने आचरण और वाणी के द्वारा जो दूसरों के मन को हरण कर लेता है। दूसरों की निंदा करने के लिये जिस की वाणी मूक है। जो स्पष्ट और मिष्टभाषी है। ऐसा गुणानिधि मानव ही धर्मोपदेश देने का अधिकारी है।

गुण बिना अहंकार

●

साधक ! "संपूर्ण कुम्भो न करोति शब्द, अर्धो घटो घोष मुपैति नूनं" आज के युग में यह कहावत चरितार्थ हो रही है। इतिहास के पन्ने पलटने से यह ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वजों के वचन में सत्य था। बुद्धि में शास्त्रीय ज्ञान का विशाल भंडार था। हृदय में दया-देवी का निवास था। भुजाओं में शौर्य की चमक थी। उद्यम में लक्ष्मी थी। दान में उदार वृत्ति थी। निवृत्ति मार्ग में निरन्तर अग्रसर होते थे। इस प्रकार अनेकों गुणों से संपन्न होते हुए भी उनके जीवन में अहंकार का नाम नहीं था। वे अपने आप को महान् नहीं समझते थे।

किन्तु आश्चर्य है कि वर्तमान समय में उपरोक्त गुणों का अभाव होते हुए भी अभिमान अपनी चरम सीमा पर आरूढ़ है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को महान् समझने लग गया है।

गुणों की पूजा

प्रवुद्धात्मन् ! जन्म-जात कोई छोटा या वड़ा नहीं होता । छोटा-वड़ा अपने गुणों से ही वनता है । क्षीर-समुद्र से समुत्पन्न कालकूट क्या स्तुत्य है ? कीड़े से रेशम, पाषाण से कंचन, कीचड़ से कमल, काष्ठ से अग्नि और सर्प के फण से उद्भव मणि क्या उत्तम नहीं है ? सव अपने-अपने गुणों से ही महार्घता को प्राप्त होते हैं । जन्म-स्थल से नहीं ।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—"सक्खं खु दीसई तवो विसेसो, न दीसई जाई विसेस कोवि" जाति की कोई विशेषता नहीं है । अपने गुणों से ही मनुष्य सर्वत्र पूजनीय होता है । श्वपाक कुल में उत्पन्न हरिकेश मुनि क्या जगत के लिए अपने तपोगुण के द्वारा पूजनीय नहीं बने ?

आचरण तेरा और फल मेरा

●

पुण्यस्य फल मिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति सादरम्॥

मित्रवर ! पुण्य रूपी वृक्ष के फल की कामना प्रत्येक मानव करता है, किन्तु पुण्य करने की इच्छा कोई भी नहीं करता। पाप-पादप के फल की इच्छा कोई भी नहीं रखता, परन्तु उसे करने में सभी सचेष्ट रहते हैं।

सुख सभी चाहते हैं, दुःख कोई नहीं। संसार रूपी वृक्ष के दो फल माने गये हैं—पाप और पुण्य। एक दुःखद है, दूसरा सुखद। एक कटु है, दूसरा मधुर। एक अमनोज्ञ है, दूसरा मनोज्ञ। एक निर्बल है, दूसरा सबल। एक का परिणाम बुरा है, दूसरे का अच्छा।

संयोगवश पाप और पुण्य का सम्मिलन हुआ। परस्पर सम्वाद चला। मधुर-मधुर बातों के बीच पाप ने विनम्र शब्दों में अपने अनन्य साथी पुण्य से कहा—भ्रातृवर ! तू बड़ा है या मैं ? लोग मुझे चाहते हैं या तुझे।

पुण्य ने अपनी मधुर भरी वाणी में कहा—मित्र ! अपने-अपने स्थान में सब श्रेष्ठ हैं, सब बड़े हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि लोग आचरण तो तेरा करते हैं, किन्तु फल मेरा चाहते हैं।

गुरु गम ज्ञान ही ज्ञान

'ज्ञानं मद-दर्पहरं' कवि की इस उक्ति सुनकर के सहसा मन सशंकित हो उठा। मस्तिष्क में चिन्तन चला। आज तो प्रत्युत "ज्ञानं मद दर्पकरं", यह उक्ति चरितार्थ हो रही है। हमें आभास होता है कि ज्यों-ज्यों छात्र-गण अध्ययन करते हैं, क्रमशः उच्चतर श्रेणी में चढ़ते हैं, त्यों-त्यों उनमें अहंकार की मात्रा दिनों दिन बढ़ती जाती है। किन्तु जब गहराई से जब सोचा तो यह अनुभव हुआ कि आज कल के छात्रों का ज्ञान गुरु-गम्य न न होकर पुस्तक-गम्य है। गुरु की छत्र-छाया से वंचित छात्र केवल पुस्तकीय माध्यम से ज्ञान के स्थान अभिमान प्राप्त कर लें तो आश्चर्य नहीं। पुस्तकीय ज्ञान गेस ज्ञान नहीं होता। छिछला ज्ञान अभिमान की उर्वरा भूमि है। गुरु-गम्य ज्ञान से आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। अतः यह सच्चा ज्ञान है।

उदाहरणार्थ, गाय के बछड़े को अपनी मां के स्तन पान से जो दूध मिलता है उसकी तुलना में भाजन-गत दूध कुछ भी पुष्टिकारक अथवा शक्तिदायक नहीं है।

चरित्र का प्रभाव

●

एक पथिक था। नगर का मार्ग भूल जाने से वह जंगल में इधर-उधर भटक रहा था। शीत-काल का समय था। अत्यधिक शीत के कारण उसका सारा शरीर ठिठुर रहा था। अग्नि की खोज में पागल था। कहीं अग्नि मिले, कहीं अग्नि मिले। खोजते-खोजते बड़ी मुश्किल से श्मशानस्थ अग्नि पर उसकी दृष्टि जा पहुँची। फिर भी वह उस अग्नि से तपने के लिए तैयार नहीं था। क्योंकि श्मशान की अग्नि स्वभाविक ही भयावह होती है। असेवनीय मानी जाती है। यद्यपि श्मशानस्थ अग्नि शीतहर है फिर भी उसके ताप से कोई तपना नहीं चाहता। इसी प्रकार शील-भ्रष्ट मनुष्य की शिक्षा-प्रद एवं हितकारी वाणी को भी कोई ग्रहण करना नहीं चाहता। चरित्रवान् व्यक्ति की वाणी को हरेक व्यक्ति सुनना चाहता है। उसके वचनों का प्रभाव भी दूसरों पर अवश्य पड़ता है।

तीन अमूल्य रत्न

१. सत्य—सत्य विजय है, असत्य पराज्य। सत्य आलोक है, असत्य अंधेरा। सत्य मानवता है, असत्य दानवता। सत्य सम्पदा है, असत्य विपदा। सत्य में प्रतिष्ठा, अभय और विश्वास का विकास है, असत्य में उन सब का ह्रास है, विनाश है। "सच्चं लोगम्मि सारभूयं" संसार में सत्य सारभूत है। अतः इस अमूल्य रत्न की रक्षा करो, साध्य अपने आप सध जायेगा।

२. प्रेम—मैत्री ही सच्चा प्रेम है। इससे दुश्मन भी मित्र बन जाते है और इसके अभाव में मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। मैत्री विश्वशान्ति का महामन्त्र है। इससे अशान्त विश्व में भी सुख-शान्ति की सरिता अविरल गति से बह सकती हैं। प्रेम में इतना बड़ा बल होता है कि वह पत्थर को भी पिघला देता है। उसके आगे अनल भी जल हो जाता है। अतः इस द्वितीय रत्न की रक्षा करते हुए आगे बढ़ो। समस्त विश्व तुम्हारा परिवार बन जायेगा।

३. करुणा—"आत्मवत् सर्वभूतेषु" छोटे-बड़े सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान समझो। "सव्व भूएसु संजमो" प्राणी मात्र के प्रति संयम रखो। किसी को दुःख मत दो। किसी का सुख मत लूटो। किसी का बुरा चिन्तन मत करो। किसी को भय मत दो। किसी को अपने अधीन मत करो। प्राणी-मात्र के प्रति बन्धुत्व भाव रखो। यही वास्तविक करुणा है, दया है, अहिंसा है। अतः जीवन के हर पहलू में करुणा को आश्रय दो। अवश्य ही विजय होगी।

आत्म-विशुद्धि

●

साधक ! कार्य के आरम्भ में तू तेरा लक्ष्य निर्धारित कर। लक्ष्य-पूर्वक आगे बढ़ना तेरे लिए सुखद होगा। जो मनुष्य अनेक प्रकार के प्रलोभनों में फंसकर अपने लक्ष्य को भूल जाता है, वह कार्य के मुख्य फल को खोकर गौण फल में ही उलझ जाता है। उसे केवल भूसी ही हाथ आती है, अनाज हस्त-गत नहीं होता।

कई व्यक्ति घोर तप करते हैं, आतापना लेते हैं, शीत उष्णादि कष्टों को सहते हैं। इन सब क्रियाओं का वास्तविक लक्ष्य आत्म विशुद्धि है। किन्तु उस लक्ष्य को छोड़ कर उपरोक्त क्रियाओं के माध्यम से, जो मूढ़मति मनुष्य अर्थ, मान, पूजा, प्रतिष्ठा आदि की कामना करते हैं; वे कल्पवृक्ष-रूप तप-तरु को अंकुरित होते ही काट डालते हैं। उन्हें फिर उस तरु के मधुर एवं सुरभित फल की उपलब्धि कैसे हो सकती है।

अतः हे साधक ! तेरा लक्ष्य आत्म-शुद्धि का चरम-रूप है।